

हिंदी आलोचना में नामवर सिंह का योगदान

गुरमीत सिंह

सह-आचार्य, हिंदी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बूंदी, राजस्थान

ABSTRACT

नामवर सिंह ने अपना आलोचकीय जीवन 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान' से आरंभ किया था। इसमें अपभ्रंश साहित्य पर विचार करते हुए बीच-बीच में नामवर जी ने टिप्पणियाँ दी हैं, वे विचारपूर्ण एवं सुचिंतित हैं। वे सूक्ष्मदर्शिता और सहृदयता के साथ मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का रूप प्रस्तुत करती हैं। नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना में जब से (57-58 वर्ष पहले) कदम रखा है तभी से वे इसके केन्द्रीय किरदार रहे हैं। इस दौरान साहित्यकारों की पीढ़ी बदल गई। हिन्दी-साहित्य में कई आन्दोलन आए और गए। आलोचक व रचनाकार आए और गए, लेकिन इस मायने में नामवर सिंह एक अपवाद ही हैं कि इतने लम्बे समय बाद भी न तो आए-गयों की सूची में शामिल हुए और न ही पुराने पड़े। एक तो हिन्दी-आलोचना की यह विडम्बना ही रही है कि आमतौर पर इसके महत्वपूर्ण आलोचक भी विशेष समय के बाद के साहित्य के भावबोध को सही-सही नहीं पहचान पाए और नये लेखन को पुराने विचारों व साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर पीटते रहे और खारिज करते रहे। दूसरी गौर करने की बात है कि हिन्दी के समर्थ आलोचक मूलतः कवि थे, कविता के क्षेत्र से वे आलोचना-कर्म में प्रवृत्त हुए इसलिए उनकी आलोचना-दृष्टि व आलोचना-कर्म पर कविता ही छाई रही। आलोचना में कविता से इतर गद्य की विधाओं की उस तरह विवेचना नहीं हुई, जिसकी वे अधिकारी थी। किसी प्रसंगवश, मजबूरीवश, जरूरतवश या लिहाजवश यदि किसी गद्य विधा का जिक्र हुआ भी तो केवल उपन्यास का ही। जब कहानी जैसी महत्वपूर्ण विधा भी उपेक्षित रही तो आत्मकथा, जीवनी आदि का तो जिक्र ही क्या करना। यद्यपि नामवर सिंह भी कविता से शुरू करके आलोचना-कर्म में दाखिल हुए, लेकिन वे सिर्फ कविता की आलोचना तक ही नहीं रुके और कहानी-आलोचना को भी नया फलक प्रदान किया।

नामवर सिंह ने कविता से आलोचना में प्रवेश विशेष मकसद व कर्तव्यबोध से किया। इस संबंध में उन्होंने कहा है कि "मैं सोचता था कि कविता के द्वारा सरस्वती की आराधना करूंगा लेकिन देखा कि भक्तों के कारण साहित्य का मन्दिर उनके पैरों की धूल से भर गया है और उसकी सफाई ज्यादा जरूरी है, पूजा से पहले! और झाड़ उठा लिया, सफाई करने लगा, पैंतीस वर्षों से मैं केवल सफाई कर रहा हूँ। आगे चलकर मुक्तिबोध के शब्दों में अपने इस कर्म को गौरव भी देने की कोशिश की है 'जो है, उससे बेहतर चाहिए, सारी दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर चाहिए'। मेहतर होना कोई बुरी बात नहीं है, इसीलिए कविता छोड़कर आलोचना का कर्म, जो बहुत कुछ सफाई जैसा ही है, करने की कोशिश करता रहा"।

परिचय

'सफाई' का यह काम सीधा-सरल नहीं था, इसके कई मोड़-पड़ाव व संघर्ष हैं। विवाद हैं और आरोप-प्रत्यारोप हैं। अपने विचार को, मान्यता को स्थापित करने व मनवाने के लिए पूरी जद्दोजहद करनी पड़ी है। अपने विचारधारात्मक दोस्तों व दुश्मनों से लगातार लोहा लेना पड़ा है, परन्तु यह भी सच है कि संघर्ष की इसी आग में तपकर ही यह कुन्दन बना है। हिन्दी-साहित्य को बेहतर करने के लिए इस 'मेहतर' का काम 'हिन्दी

के विकास में अपभ्रंश का योगदान'(1952), 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' (1954), 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (1956), 'इतिहास और आलोचना' (1957), 'कहानी: नयी कहानी' (1964), 'कविता के नये प्रतिमान'(1968), 'दूसरी परम्परा की खोज'(1982), 'वाद विवाद संवाद'(1990) पुस्तकों के रूप में तथा अनेक वार्ताओं एवं भाषणों में हमारे सामने मौजूद है।[1,2]

How to cite this paper: Gurmeet Singh "Contribution of Namvar Singh in Hindi Criticism" Published in International Journal of Trend in Scientific Research and Development (ijtsrd), ISSN: 2456-6470, Volume-6 | Issue-4, June 2022, pp.153-160, URL: www.ijtsrd.com/papers/ijtsrd49965.pdf



IJTSRD49965

Copyright © 2022 by author(s) and International Journal of Trend in Scientific Research and Development Journal. This is an Open Access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution License (CC BY 4.0)



(http://creativecommons.org/licenses/by/4.0)



इसके बावजूद इनका मानना है कि लोगों की उनसे जितनी अपेक्षाएं थी उसकी तुलना में उन्होंने कम लिखा, इसीलिए उन्हें 'अपने आलोचना कर्म से घनघोर असंतोष है'। नामवर सिंह ने आलोचना को वैचारिक संघर्ष का प्रभावी साधन बनाया, अपने आलोचना-कर्म से असंतोष की यह भावना उनके दायित्व-बोध से ही निस्त है। नामवर सिंह के आलोचक के बारे में यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि उन्होंने जो काम अपने जिम्मे लिया था उसको बड़ी शिष्टता से किया। बहुत से कवियों-रचनाकारों और रचनाओं पर कलम चलाने की उनकी महत्वाकांक्षी योजनाएं अभी पूरी तो क्या बेशक शुरू भी नहीं हुई हैं, लेकिन वे अपने अब तक के कर्म से भी संतुष्ट हो सकते हैं और उनकी अधूरी योजनाएं भी भावी 'साहित्य-मेहतरो' को शेष काम की ओर संकेत करने का महत्त्वपूर्ण काम करती हैं। नामवर सिंह के बारे में अपनी बात यदि कवि व कथाकार राजकुमार राकेश के शब्दों में कहूं तो वह कुछ इस तरह होगी "समग्र भारतीय वाङ्मय में कबीर के बाद नामवर सिंह एक ऐसे व्यक्तित्व नजर आते हैं, जो हर आने वाले काल में ही नहीं, एक असंभावित अपवाद की तरह अपनी हर रचना से बड़ा है। "गालिब की दिल्ली में आज भी बनाकर फकीरों का भेष तमाशाएँ अहले करम" देखने वाले इस गंवई व्यक्तित्व के बारे में कोई यह नहीं जानना चाहता कि आज तक वे क्या लिख चुके हैं, आजकल क्या लिख रहे हैं और आगे क्या कुछ लिखने वाले हैं। उनका हर कहा-अनकहा शब्द उनके आलोचनात्मक तेवर और साहित्य की प्रतिनिधि रचना के रूप में स्वीकार्य हो जाता है। 'वाचक साहित्य' की जो प्रवृत्ति कबीर में थी, वह आज इस व्यक्तित्व में चीन्हीं जा सकती है, जो अपने विचार के प्रति दृढ़ है, किंतु वह स्वयं विचार के पीछे नहीं, विचार उसके पीछे छाया की तरह चलता है। ठीक-ठीक यह अंदाजा नहीं लगाया जा सकता, कि दो भिन्न समयों में, एक ही भाव को व्यक्त करते हुए, वे अपने पिछले विचार के तत्त्वार्थ की जमीन पर ही अटके हैं या उसी विचार के नये रूपान्तरण की नयी जमीन को अपना चुकने के उपरांत उसे घुटने टिकवाकर अपने सामने नचवा रहे हैं। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो भाषा और शैली इत्यादि के खिलंदरेपन को नामवर के विराट व्यक्तित्व का एक सहज व छोटा सा अंग

बनाकर प्रस्तुत करती है। यह सहजता अपनी परतों की गहराई में इतनी विकट और विकराल है, जिसे कोई विरला ही अपने आजीवन श्रम, विश्वास और जीवन के बूते पर अर्जित कर पाता है। जबकि हिन्दी में तो यह तथ्य एक कायदे की तरह है कि उसे प्रशस्तियां मर जाने के बाद ही मिलेंगी। किंतु नामवर सिंह के व्यक्तित्व, रचनाधर्मिता और आलोचना के 'लोक' का मूल्यांकन उनके जीवनकाल में ही चौंकाने वाली हदों तक हुआ है। साहित्य की वाचक परंपरा में ऐसा सार्थक और अविस्मरणीय स्तंभ शायद ही कोई दूसरा हो" [3,4]

नामवर सिंह ने जब हिन्दी समीक्षा में पदार्पण किया तो वह समय न केवल हिन्दी रचना व आलोचना के लिए महत्त्वपूर्ण था, बल्कि दर्शन व साहित्य के क्षेत्र में पूरी दुनिया में गर्मागर्म बहस छिड़ी हुई थी। नामवर सिंह को उस परम्परा में भी संघर्ष करना पड़ा, जिसको वे आगे बढ़ाना चाहते थे और इसके विरोधियों से तो टक्कर लेने के लिए वे मैदान में उतरे ही थे। प्रगतिवादी समीक्षक उस समय अपना ऐतिहासिक दायित्व न पहचानकर 'इतिहास में अपना स्थान सुनिश्चित' करने में जुटे हुए थे। उनके बीच कथित सिद्धांतों की लड़ाई व्यक्तिगत छींटाकशी का मोड़ ले चुकी थी। हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना में रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के बीच छीछालेदर-काण्ड सम्पन्न हो चुका था। दूसरी ओर जैनेन्द्र और अज्ञेय के नेतृत्व में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, रचना की विषयवस्तु पर कलात्मकता की प्रमुखता, विचारधारा से दूर विशुद्ध-साहित्य की वकालत, साहित्य को सामाजिक भूमिका से काटकर मात्र रसास्वादन तक सीमित करने का अभियान जारी था। इस अभियान में बड़ी चतुराई से साहित्य को राजनीति व विचारधारा से दूर रखने के लिए अनुभव व यथार्थ को विचारधारा के बरक्स रखने की कोशिश की गई तथा अनुभव की प्रामाणिकता को ही रचना की विश्वसनीयता का व प्रभावशीलता का मूल-मंत्र माना गया। असल में इसके तार शीत युद्ध के दौरान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े थे। दूसरे विश्व युद्ध के बाद विश्व में वामपंथ की ओर बढ़ते रूझान को कम करने के लिए पूंजीवाद के समर्थकों ने बर्लिन में 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' की स्थापना की, जिसमें कई देशों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया।

सोवियत-यूनियन और समाजवाद के खिलाफ निरन्तर प्रचार करने के लिए यह कांग्रेस विभिन्न स्थानों से छः पत्रिकाएं प्रकाशित करती थी। इनमें 'एनकाउन्टर' सबसे प्रमुख थी। फ्रांस से Freuve, वियना से Forum, फ्रांस से ही स्पेनी भाषा में Euderno, लन्दन से Soveit survey तथा The China Quarterly प्रकाशित की जाती थी। इनके अलावा राष्ट्रीय स्तरों पर दस से अधिक पत्रिकाएं छपती थी। भारत में भी कई साहित्यकार इससे जुड़े हुए थे। मार्च 1951 में इस कांग्रेस का पहला एशियाई सम्मेलन बम्बई में हुआ। हिन्दी के प्रख्यात लेखक अज्ञेय को 'भारतीय कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' का सचिव नियुक्त किया गया। बम्बई से 'क्वेस्ट' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी, जिसके सम्पादक अबु सईद अयूब तथा अम्लान दत्त थे। एक अन्य साप्ताहिक पत्र 'थाट' का सम्बन्ध भी 'कांग्रेस' से था और अज्ञेय इसके साहित्य-सम्पादक भी रहे[5,6]

विचार-विमर्श

विचार-स्वतन्त्रता की यह कथित बहस असल में बुद्धिजीवियों में मार्क्सवाद के बढ़ते प्रभाव को मन्द करने की योजना थी। भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में रचनाकारों ने बढ़-चढ़कर सक्रिय भूमिका निभाई थी और इसी कारण साहित्य का राजनीति से भी गहरा ताल्लुक था। अपने राजनीतिक विचारों, कार्यों व रचनाओं में इनकी अभिव्यक्ति के लिए सजा भुगतने वाले लेखकों की सूची काफी लम्बी है। साहित्य को राजनीति से दूर रखने का मतलब था समाज की मुख्यधारा व समस्या से अलग-थलग पड़ जाना, जिसके अभाव में कोई भी साहित्य-रचना कालजयी तो क्या जीवन्त भी नहीं हो सकती, हिन्दी के अधिकांश साहित्यकारों ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया। शायद इसीलिए हिन्दी-जगत में उन साहित्यकारों का नाम आदर से नहीं लिया जाता, जिन्होंने कि अपनी रचनाओं में जन-भावना के इस रूप को वाणी नहीं दी, बल्कि वही रचनाएं ही लोगों में लोकप्रिय हुईं, जिनमें राजनीतिक स्वर प्रखर रूप में था। इस पुख्ता परम्परा के बावजूद विचारधारा व राजनीति को साहित्य से दूर रखने का विचार इसी दौरान हिन्दी में लोकप्रिय हुआ। यद्यपि प्रगतिवादी-आलोचना में भी साहित्य के रूप और विषयवस्तु के अन्तःसंबंधों पर, साहित्य की सामाजिक भूमिका को लेकर और साहित्य व विचारधारा के अन्तःसम्बन्धों पर बहस थी और लगातार इस पर विचार होता रहा है। लेकिन यहां बहस इस बात को लेकर थी कि साहित्य में विचारधारा किस रूप में हो, परन्तु 'कल्चरल फ्रीडम' के पैरोकारों ने राजनीति और विचारधारा को साहित्य के लिए अछूत ही घोषित कर दिया। इसके लिए उन्होंने मार्क्स की विचारधारा सम्बन्धी अवधारणा की विकृत व्याख्याएं करके विचारधारा को मात्र बौद्धिक विचारों तक सीमित कर दिया, जबकि मार्क्स की विचारधारा धारणा के अन्तर्गत मनुष्य के भाव, अनुभव व समूची चेतना शामिल थी।[7,8]

नामवर सिंह ने उस समय की बहस में सक्रिय हिस्सेदारी करते हुए 'कल्चरल फ्रीडमवादियों' के विचारों में छुपी राजनीति को पहचाना और इसके जन-विरोधी व रचना-विरोधी तर्क को उद्घाटित किया। इस बहस के दौरान ही नामवर सिंह की आलोचक के रूप में पहचान बनी और इसी दौरान ही नामवर सिंह की आलोचना-पद्धति का विकास हुआ। उनके इस दौरान के लेख 'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में संकलित हैं। इसके

तीसरे संस्करण की भूमिका में नामवर सिंह ने लिखा कि "यह पुस्तक छठे दशक के वैचारिक संघर्ष का एक दस्तावेज है। इस वैचारिक संघर्ष में प्रगति विरोधी विचारों का जबाब देने में इन निबन्धों ने भी एक भूमिका अदा की थी" साहित्य की सामाजिक भूमिका को नकारने और विचारधारा से दूर करने के लिए 'अनुभूति' को तर्क के तौर पर इस तरह पेश किया जाता था मानो कि अनुभूति अपने आप में कोई स्वतन्त्र, शाश्वत, निरपेक्ष, अपरिवर्तनीय और निर्विवाद वस्तु है। नामवर सिंह ने 'अनुभूति और वास्तविकता' लेख में इसका जबाब दिया। उन्होंने लिखा कि "अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया है। अपने जीवन और परिस्थितियों को बदलने के क्रम में हमारी अनुभूतियां भी बदलती चलती हैं- उनमें नवीनता आती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के कारण मनुष्य के राग-बोध के अनेक नये पहलू प्रकट हुए। अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए जिस राष्ट्रीय भावना की अनुभूति प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला आदि आधुनिक साहित्यकारों को हुई वह हिन्दी-साहित्य में सर्वथा नयी थी—जो लेखक अपने युग की ज्वलंत समस्याओं से तटस्थ रहकर केवल 'अनुभूति' की रट लगाया करते हैं वे अनुभूति के सामाजिक आधार का निषेध करते हैं। इसलिए उनकी सारी सदिच्छा सपना बनकर ही रह जाती है। अनुभूति वास्तविकता नहीं बल्कि वास्तविकता संबन्धी भावना है। इसीलिए वह वास्तविकता का एक अंश अथवा पहलू है। अनुभूति वास्तविकता की जगह नहीं ले सकती, उसकी सार्थकता इसी बात में है कि वह वास्तविकता को रचनात्मक रूप दे सके। विषयवस्तु की अपेक्षा 'अनुभूति' पर जोर देने वाले वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमाओं की वकालत करते हैं, वे अनुभूति के नहीं, 'अनुभूति-विशेष' के हिमायती हैं। अपनी अनुभूति के विस्तार की बात करते हुए भी वे अपने प्रयत्नों से उसे संकुचित बनाते हैं"।[9,10]

इस दौरान बहस की एक विशेषता यह थी कि यह कोरे सिद्धांतों पर केन्द्रित नहीं थी, बल्कि रचना का संदर्भ हमेशा साथ था। नामवर सिंह ने रचना के माध्यम से ही अपना पक्ष रखा, इसलिए उनकी आलोचना में कभी कोरा पांडित्य हावी नहीं हुआ। कोरे-सिद्धांतों से उनकी आलोचना कोसों दूर है। रचना ही नामवर सिंह की आलोचना का आधार है, किसी बाहरी सिद्धांत को उन्होंने कभी रचना पर फिट करके मनोनुकूल निष्कर्ष नहीं निकाला।

परिणाम

नामवर सिंह आलोचना में अपने विचारों या सिद्धांतों की बार-बार दुहाई देना जरूरी नहीं समझते इस बारे में उनका कहना है कि "आलोचना की वह पद्धति जिसमें बार-बार सिद्धांतों की दुहाई हो, रचना के मूल्यांकन, विश्लेषण से असम्बद्ध और अलग उनका उल्लेख हो, मुझे गलत लगती है। कुछ मार्क्सवादी आलोचक किसी कृति का मूल्यांकन करते समय मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन या माओ के प्रमाण पर सिद्धांत कथन करते हैं फिर उस कृति की जांच करते हैं। यह प्रणाली पुरानी शास्त्रीय आलोचना से भिन्न नहीं है। कोई भी बाबा वाक्य प्रमाण विश्लेषण की अक्षमता का पूरक नहीं हो सकता। मार्क्स या लेनिन का प्रमाण किसी आलोचना के प्रामाणिक होने की गारंटी नहीं है। उसी तरह जैसे किसी कविता में समाजवादी आस्था की घोषणा उस कविता के अच्छे होने की शर्त नहीं है।"

नामवर सिंह के साहित्य-संबंधी सिद्धांत उनकी व्यावहारिक आलोचना के साथ ही विकसित हुए हैं। डा. मैनेजर पाण्डेय ने नामवर की आलोचना-दृष्टि पर विचार करते हुए लिखा कि "उनकी आलोचना में सिद्धांत और व्यवहार की ऐसी एकता है कि एक को दूसरे से अलग करना संभव नहीं है। उनके निबंधों या पुस्तकों के शीर्षक प्रायः सैद्धान्तिक लगते हैं, लेकिन उनके भीतर सिद्धांत-निर्माण से अधिक व्यावहारिक विवेचन का प्रयत्न दिखाई देता है। उनके निबंधों या पुस्तकों में सैद्धान्तिक चिंतन की प्रक्रिया यह है कि वे प्रारम्भ में किसी विचार को सूत्र रूप में रखते हैं। वह विचार अपना हो सकता है या दूसरों का भी, देशी हो सकता है या विदेशी भी। फिर वे उसकी व्याख्या करते हैं। व्याख्या के समर्थन में उदाहरण रखकर उसका विवेचन करते हैं। इस तरह विचार की सच्चाई की परख व्यवहार की कसौटी पर करते हैं और अन्त में निष्कर्ष के रूप में जो विचार प्रस्तुत करते हैं वे प्रायः उनके अपने सैद्धान्तिक निष्कर्ष होते हैं। वैचारिक स्थापना, विश्लेषण, उदाहरण, व्याख्या और निष्कर्ष की यह विचार-प्रक्रिया मूलतः आचार्य शुक्ल की है, जिसका उपयोग डा. नामवर सिंह ने किया है। कभी-कभी वे अत्यन्त साधारण, अति परिचित उदाहरण से अपनी बात शुरू करके क्रमशः गहरे चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं और विश्लेषण तथा विवेचन के समय अपनी वैचारिक यात्रा में पाठक को साथ लेकर चलते हैं और अन्ततः वे जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह पाठक का अपना निष्कर्ष बन जाता है। लोकप्रिय लेखन की ये विशेषताएं 'इतिहास और आलोचना' में मौजूद हैं लेकिन 'कविता के नये प्रतिमान' में सपाटबयानी की जगह जटिलता आ गई है। [11,12]

रचना का वैचारिक आधार व रचनाशीलता के विश्लेषण की नामवर सिंह की निराली पद्धति में सपाटता व इकहरापन नहीं आता बल्कि रचना की जटिलता की विभिन्न परतों को वो खोलते हैं। उनकी आलोचना पद्धति की विशेष बात यह है कि वे रचना के रूप की व्याख्या-विश्लेषण तक सीमित करके आलोचना को न तो रूपवाद का शिकार होने देते हैं और न ही समाजशास्त्रीय व्याख्या तक सीमित करके उसके रूप की उपेक्षा करते हैं। वे रचना के रूप से आरम्भ करके उसका सामाजिक आधार खोजते हुए रचना के भाव-बोध व सामाजिक-सत्य तक पहुंचते हैं और विषयवस्तु से शुरू करके रचना-प्रक्रिया से गुजरते हुए रचना के रूप की विशिष्टता तक जा पहुंचते हैं। उनका यह अनूठा ढंग कहानी और कविता दोनों की आलोचना में देखा जा सकता है। अपनी पद्धति के बारे में उनका कहना है कि "आप मेरे आलोचनात्मक लेखों को ध्यान से देखें तो पायेंगे कि मैंने रचना के विश्लेषण के दौरान रूप के स्तर पर जहां उसमें मौजूद अन्तर्विरोधों और दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है वहीं उस रचना के समूचे नैतिक स्खलन की बात भी की है। यह नैतिक स्खलन रचना की जीवन-दृष्टि और विचारधारा से भी संबंधित है। निर्गुण और ऊषा प्रियम्बदा की कहानियों के मेरे विश्लेषण की यही पद्धति है। अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' का जो विश्लेषण मैंने 'कविता के नये प्रतिमान' में किया है वह भी इसी पद्धति पर है। रूप-विश्लेषण से अन्तर्वस्तु के विश्लेषण की और अन्त में समग्रतः मूल्य निर्णय।" 8 उनका यह ढंग ही उन्हें अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों से अलग व अधिक विश्वसनीय बनाता है। नामवर सिंह ने अपनी आलोचना को रचना पर ही केन्द्रित रखा और किसी रचनाकार के बारे में 'अच्छे' या 'बुरे' जैसी कोई श्रेणी का निर्माण नहीं किया इसलिए ही शायद वे उस सार्वभौमिक

आरोप से बचे रहे जो आलोचकों पर और प्रतिबद्ध आलोचकों पर विशेष रूप से चिपका दिया जाता है -अपनों की स्तुति व अन्यो की उपेक्षा अथवा बुराई। नामवर सिंह के आलोचक के पास दोस्त रचनाकारों की और दुश्मन रचनाकारों की कोई सूची नहीं है। मुक्तिबोध की रचनाओं का जिस तन्मयता व वैचारिक तैयारी से विश्लेषण करते हैं उसी तरह निर्मल वर्मा भी उनके पसंदीदा रचनाकार हैं।

रचना के सामाजिक आधार की पहचान और उसकी सामाजिक सार्थकता के संदर्भ में उसकी महत्ता का उद्घाटन नामवर सिंह की आलोचना का केन्द्रीय सूत्र है। उनकी व्यावहारिक आलोचना में साहित्य-सिद्धांतों के निरूपण की आधारभूमि यही है। साहित्य का कोई रूप हो, कोई विचार हो या साहित्य में प्रचलित कोई भ्रम या रूढ़ि हो, वास्तविकता हो या कलात्मक-सौन्दर्य हो या कोई साहित्यिक प्रवृत्ति इनके सामाजिक आधार की तलाश में ही नामवर सिंह ने हिन्दी आलोचना और विशेषकर प्रगतिशील आलोचना के समक्ष चुनौती बनी कई समस्याओं को सुलझाया। [13,14]

'छायावाद' की गुल्मी प्रगतिशील आलोचना के सामने चुनौती बनी हुई थी। नामवर सिंह की विश्लेषक बुद्धि व रचना के भीतर से उसकी पहचान करने की पद्धति ने इसे सुलझा दिया। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रचना के दार्शनिक आधार को खोजने के प्रयास से ही छायावाद पर पड़े रहस्यवाद के कोहरे के पार की सच्चाई दिख सकी। विशुद्ध-साहित्य से बाहर सामाजिक संदर्भ में देखने की कोशिश की तो नामवर को छायावाद की भाव-प्रवणता, कल्पनाशीलता, प्रकृति-चित्रण को व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति नजर आया। "छायावाद के बारे में प्रायः कहा जाता है कि इसका संबंध तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से कतई न था। आलोचकों का बड़ा पुराना आरोप है कि जिस समय देश में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष हो रहा था, छायावादी कवि कल्पना-लोक में बैठकर हृत्तन्त्री के तार बजाया करते थे। लेकिन ऐसा वही लोग कहते हैं जो साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद समझते हैं। अच्छी तरह से देखने पर पता चलेगा कि छायावाद ने अपने युग को अत्यन्त भावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के दो मोर्चे थे। एक मोर्चा प्राचीन सामंती मर्यादाओं के विरुद्ध था और दूसरा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध। छायावाद का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सामंती मर्यादाओं के विरुद्ध बहुत बड़ा कदम था। -राजनीतिक और आर्थिक रूप में यही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य शोषित-कृषकों का पक्ष लेकर विप्लव के बादल का आह्वान करता था। — छायावादी कवि ने नारी को अपमान के पंक और वासना के पर्यक से उठाकर देवी और सहचरी के आसन पर प्रतिष्ठित किया। नैतिकता की पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर उसने मानव-विवेक पर आधारित प्रेम-सम्बन्धी नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना की, सूखे सुधारवाद की जगह छायावाद ने रागात्मक आत्म-संस्कार का बीजारोपण किया, मध्यवर्ग को व्यावसायिक प्रयोजनशीलता तथा अत्यन्त उपयोगितावादी दृष्टिकोण से मुक्त कर आदर्शवाद के उच्च आकाश में विचरण की प्रेरणा दी। ... जहां तक साम्राज्य-विरोधी मोर्चे का सवाल है, इस पर छायावादी कवि ने स्पष्ट रूप से अंग्रेजों का विरोध तो नहीं किया लेकिन परोक्ष रूप से साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश-प्रेम, जागरण तथा आत्मगौरव का गान गाया।"

हिन्दी-समीक्षा में रहस्यवाद को एक प्रवृत्ति के रूप में इस तरह देखा जाता था मानो कि उसके स्वरूप पर परिस्थितियों के बदलने का कोई असर ही न पड़ा हो। नामवर सिंह विभिन्न युगों में रहस्यवाद के बदलते स्वरूप की पहचान करते हुए उसकी प्रगतिशील व प्रतिगामी भूमिका उद्घाटित करने में सफल हुए तो सामाजिक संदर्भ के साथ जोड़कर देखने के कारण।[15,16]

नामवरसिंह मूलतः कविता के आलोचक हैं, लेकिन 'कहानी: नयी कहानी' में कहानी की समीक्षा में 'अधिक व्यापक और समर्थ पाठकों के सहयोग से' 'कहानी-समीक्षा के संतुलित प्रतिमान तैयार' करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और कहानी को समाज के भाव-बोध व युग-सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित किया। चूंकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा आदि हिन्दी के प्रख्यात समीक्षक मुख्यतः कविता के आलोचक थे, आलोचना के केन्द्र में कहानी आई ही नहीं। इन्होंने यदि गद्य पर विचार किया भी तो उपन्यास के संदर्भ में। कहानी को चर्चा के केन्द्र में लाने में नामवर सिंह का अहं योगदान है। नामवर सिंह ने आलोचना की इस कमी पहचानते हुए लिखा कि "छोटे मुंह बड़ी बात" कहने वाली कहानी के बारे में प्रायः 'बड़े मुंह छोटी बात' कही जाती है। कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प उसकी सार्थकता! कहानी में अनेक आलोचकों की दिलचस्पी इतनी ही है कि वह साहित्य का एक 'रूप' है। इसलिए कहानी की ओर ध्यान जाता है या तो इतिहास लिखते समय या फिर साहित्य-रूपों का शास्त्रीय-विवेचन करते समय। जहां साहित्य के मान और मूल्यों की चर्चा होती है, वहां कहानियों के हवाले नहीं मिलते। हवाले मिलते हैं प्रायः कविताओं के और कभी-कभी उपन्यासों के। यदि शास्त्रीय आलोचक कहानी को केवल साहित्य-रूप समझते हैं तो मूल्यवादी आलोचक उसे जीवन की सार्थक अनुभूतियों के लिए असमर्थ मानते हैं। संभवतः जीवन के लघु प्रसंगों पर लिखी जाने वाली कहानी स्वयं भी 'लघु' समझी जाती है। इसलिए 'व्यापक जीवन' पर दृष्टि रखने वाले स्वभावतः कहानी-जैसी छोटी चीज को नजर-अन्दाज कर जाते हैं। आलोचकों की कुछ ऐसी धारणा है कि केवल कहानियां लिखकर कोई लेखक महान नहीं हो सकता।[17,18]

नामवर सिंह वास्तव में हिन्दी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने कहानी की समीक्षा को गम्भीरता से लिया और कहानी के रूप को उसके कहानीपन से जोड़ा और कहानी के रूप की विशिष्टता का महत्व समझा। नामवर सिंह के कहानी-आलोचना में प्रवेश से पहले कहानी तात्त्विक आलोचना ही मुख्य तौर पर स्थापित थी। कहानी विवेचन व पाठन फार्मूलाबद्ध था। फार्मूले को सही ढंग से लागू करना ही कहानीकार की सफलता थी। कहानी आलोचना में जो रिक्त-स्थान था उसे कहानीकार ही अपने वक्तव्यों से भर रहे थे और अपनी कहानियों को आदर्श रूप में किसी न किसी तरह स्थापित करने के जुगाड़ बनाते थे। अभी तक हिन्दी की कहानी संबंधी 'सामान्य धारणा' ने 'कहानी की जीवनी शक्ति का अपहरण कर उसे निर्जीव 'शिल्प' ही नहीं बनाया है बल्कि उस शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर बांट दिया है। लिहाजा, हम कहानी को 'कथानक', 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावनात्मक प्रभाव', 'विषयवस्तु' आदि के अलग-अलग 'अवयवों' के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गये हैं।

कहानी के बारे में "इस धारणा का असर यह पड़ा कि लोगों ने कहानी में जीवन-सत्य तथा भाव-बोध को देखना छोड़कर उसे कहानी की पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में देखना शुरू कर दिया। 'प्रभावान्विति' और 'एकांत्विति' की माला जपते हुए भी इस तरह के आलोचकों ने कहानी को अनुभूति की एक 'इकाई' के रूप में देखना छोड़ दिया। इस तरह उन्होंने कहानी के सत्य को ही नहीं, बल्कि कहानी के 'कहानीपन' की समझ भी खो दी। नामवर सिंह ने कहानी के कहानीपन को इसके बरक्स रखा। यदि नामवर सिंह कहानीपन और उसकी प्रक्रिया पर इतना जोर न देते तो शायद कहानी-आलोचना अभी तक उसके 'अवयवों' की दोषपूर्ण समीक्षा तक ही सीमित रहती, जिसे विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में ठस्स मानसिकता से ग्रस्त अध्यापक अभी तक भी चलाये जा रहे हैं। साहित्य के अध्ययन का यह तरीका उसमें रुचि पैदा नहीं करता, बल्कि उससे चिढ़ पैदा करता है। विद्यार्थियों के लिए कहानी की उपयोगिता मात्र परीक्षा में एक प्रश्न के लिए उत्तर देने तक सीमित हो जाता है।

कहानी समीक्षा में उसके कहानीपन को स्थापित करना हिन्दी कहानी के अध्ययन में गुणात्मक परिवर्तन था। नामवर सिंह ने कहानीपन को मुख्य मानते हुए कहा कि "असल बात है कहानी का कहानीपन। यह आकस्मिक नहीं है कि कहानीपन की उपेक्षा करके केवल शिल्प के लिए लिखी हुई एक भी श्रेष्ठ कहानी नहीं बन सकी" ... 'कहानी का यह कहानीपन समझने में कठिन होते हुए भी कोई 'रहस्य' नहीं है। कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छंदमुक्त हो जाए, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्य रचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है। लय की तरह कहानी कहना मनुष्य की काफी पुरानी कलात्मक वृत्ति है और इसकी रक्षा अपने-आप में स्वयं भी एक सांस्कृतिक कार्य है और इतिहास से प्रमाणित होता है कि नीति, लोक-व्यवहार, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस कला का उपयोग करते हुए भी मानव-जाति ने आज तक इसकी रक्षा की है। निःसंदेह इस कला का चरम विकास आधुनिक युग में हुआ जब उद्देश्य और कहानीपन दोनों घुल-मिलकर इस तरह एक हो गए कि उद्देश्य से अलग कहानी के रूप की कल्पना कठिन हो गई।

कहानी को मात्र शिल्प की दृष्टि से 'अच्छी' या 'सफल' कहने की बजाए जीवन-मूल्यों की कसौटी पर कसने तथा मनोरंजन की बजाए उसकी सामाजिक सार्थकता पर जोर दिया जिससे कहानी साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में स्थापित हुई। "आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता! आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना काफी नहीं है बल्कि वर्तमान के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए। जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता, उपन्यास आदि के साहित्य-रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की भी परीक्षा होनी चाहिए। इससे कहानी-समीक्षा का एक ढांचा तो तैयार होगा ही, साथ-साथ मानवीय मूल्यों के संबंध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मानों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी। आज साहित्य के क्षेत्र में अनेक एकांगी विचारधाराएं केवल इसलिए फैली हुई हैं कि वे केवल एक साहित्य-रूप-कविता पर आधारित हैं। बहुत सम्भव है कि कहानियों का सत्य इनमें से कुछ को एकदम गलत ठहरा दे,

कुछ की अनावश्यक नोकें मार दे और कुछ में नये कौछें निकाल दे।" नामवर सिंह ने हर साहित्य-रूप की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आर्कषित किया कि हर युग सत्य अपने कलात्मक रूपों को अपने साथ लेकर आता है और रूप में अभिव्यक्त सत्य विशिष्ट होता है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि कोई रूप जीवन या समाज के किसी खंड विशेष पर केन्द्रित है या पूरे जीवन को अपने में समेटने का दावा करता है, बल्कि महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई रचना या कोई साहित्य-रूप समाज के मुख्य अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करने का निर्वाह कैसे करता है। यदि किसी रचना या किसी साहित्य-रूप में यह क्षमता है तो वह महान है और यदि यह क्षमता नहीं है तो जीवन की समग्रता में अभिव्यक्ति करने का दावा करने वाले महाकाव्य भी साहित्य में कोई योगदान नहीं दे पाते, सिवाय इसके कि उसके शब्दों व मात्राओं की गिनती करते रहने में विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में उमड़ रही शोधार्थियों की फौज को कई वर्ष तक उलझाए रहें।

नामवर सिंह ने कहानी को जीवन का खण्डित सत्य या एक टुकड़ा सत्य व्यक्त करने की मान्य धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि "लोगों की यह धारणा गलत है कि कहानी जीवन के एक टुकड़े को लेकर चलती है, इसलिए उसमें कोई बड़ी बात नहीं कही जा सकती। कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रान्ति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी बृहद अन्तर्विरोधों के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे जाता है।"

कहानी में सामाजिक सत्य का विशिष्ट रूप होगा, इसलिए किसी समाज के सामाजिक सत्य को पूर्ण रूप से जानने के लिए उसके विविध रूपों का अध्ययन जरूरी है। 'साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के विभिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम चुकता दिखाई पड़ता है, तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी महान जय यात्रा में सत्य-सौन्दर्य-द्रष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय-समय पर नये-नये कलारूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक से अधिक समझ और समेट सके। हमारी इसी ऐतिहासिक आवश्यकता से एक समय कहानी भी उत्पन्न हुई और अपने रूप-सौन्दर्य के द्वारा इसने हमारे सत्य-सौन्दर्य-बोध को भी विकसित किया। कहानी की इसी ऐतिहासिक भूमिका की मांग है कि वर्तमान परिस्थिति में उसकी सार्थकता की परीक्षा व्यापक संदर्भ में की जा सकती है।' नामवर सिंह ने कहानी की आलोचना में उसकी रचना-प्रक्रिया पर जोर देते हुए नामवर सिंह ने तत्कालीन कहानियों की इस ढंग से व्याख्या की कि कहानी के अध्ययन में एक नई स्फूर्ति का संचार हुआ। यद्यपि यह भी सही है कि उनकी इस रचनात्मक हरकत से उस समय के बहु प्रतिष्ठित कहानीकारों के अहं को चोट पहुंची, जिसकी अभिव्यक्ति जब-तब लेखों में, भाषणों, गोष्ठियों-सेमिनारों और पत्रिकाओं के संपादकियों में होती रही है। अनुभव को ही प्रामाणिक मानकर रचित कहानियां जिस तरह मध्यवर्गीय कुंठा, निराशा, घुटन व पराजय-बोध की विकृतियों की शिकार हुई वह आज भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। नामवर सिंह का हिन्दी-कहानी पर अपनी कलम चलाना शुभ संकेत था जिसने हिन्दी कहानी को एक नई दिशा दी थी। हिन्दी में शायद ही कोई

आलोचक हो जो रचना को इस तरह प्रभावित कर सका हो। लेकिन यह बात समझ में आने वाली नहीं है कि नामवर सिंह जैसा लड़ाका व प्रतिबद्ध आलोचक हिन्दी कहानी के स्वयंभू नेताओं की नाराजगी के भय से कहानी-आलोचना का मैदान छोड़कर क्योंकर अलग-थलग जा खड़ा हुआ और कहानी के बारे में न लिखने की पक्की कसम खा ली। यद्यपि नए कहानीकारों की नई जमीन तोड़ने वाली कहानियां इधर प्रकाशित हुई हैं, लेकिन कहानी की लम्बी परम्परा का अनुभव व समझ रखने वाले नामवर सिंह उनकी यदा-कदा मौखिक तारीफ करने के अलावा कुछ विशेष नहीं कर पा रहे हैं।[19]

निष्कर्ष

"जैसे रचना के क्षेत्र में हर सार्थक रचनाकार कहीं-न-कहीं अपने लिए एक परम्परा ढूंढता है, चिंतन के क्षेत्र में भी अपने लिए एक परम्परा ढूंढने की जरूरत आलोचक को महसूस होती है। हिन्दी में यह उल्लेखनीय बात है कि इस परम्परा को खोजने ढूंढने और उससे अपने आपको जोड़ने का काम गैर-मार्क्सवादी आलोचकों की अपेक्षा मार्क्सवादी आलोचकों ने ज्यादा किया है। विचारणीय बात यह है कि भारतीय परम्पराओं की समग्रता में पहचान क्योंकर नहीं हो पाई। परम्परा के नाम पर मात्र वर्चस्वशाली परम्परा का राग ही अलापा जाता रहा और उसके शोर व बोझ के तले दबी दूसरी परम्परा के महत्व को किसी ने उतनी गम्भीरता से नहीं पहचाना। इस परम्परा का यदि कहीं कोई जिक्र आया भी तो फुटकल खाते के रूप में। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बहाने से नामवर सिंह ने इसे एक मुकम्मल विचार के तौर पर पहचाना और स्थापित करने की कोशिश की। भारत के वर्ग-विभक्त समाज में संस्कृति भी स्वाभाविक तौर पर विभक्त रही है, बेशक उसकी अलग-अलग पहचान करना थोड़ा कठिन जरूर होता है। 'जैसे काशी के भीतर दो काशी थीं - एक तो काशी के पंडित तुलसीदास थे और दूसरे उसी काशी का जुलाहा था।' जैसे काशी बंटी हुई थी वही स्थिति लगभग पूरे हिन्दुस्तान की थी। वर्चस्वशाली वर्गों की विचारधारा व संस्कृति जहां शास्त्रों के जोर पर तथा शासन सत्ताओं के जोर पर स्थापित रही है वहीं समाज के दबे-कुचले व शोषित-शासित लोगों की लोकचेतना व संघर्ष के जोर पर। इन संस्कृतियों में टकराहट भी रही है और संघर्ष भी। जो कभी खुले विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ है तो कभी समाज के विभिन्न प्रश्नों की व्याख्याओं के रूप में। परम्पराओं और मूल्यों को अपने पक्ष में भुनाने के लिए आचार्यों ने उनकी गड्डमड्ड व्याख्याएं भी कीं और उनके साफ-स्पष्ट मंतव्यों को उलझाने की भी कोशिशें लगातार होती रही हैं। इसीलिए शायद एक समय के बाद दूसरी परम्परा पहली परम्परा का ही हिस्सा दिखाई देती है। दूसरी परम्परा के विचारक अन्ततः उसी धारा में खड़े दिखाई देते हैं जिसके विरुद्ध वे खड़े हुए थे। परम्परा में व्याप्त संघर्ष छुप जाता है और ऐसे लगता है मानो कि सर्वसम्मति कायम हो। फिर महात्मा बुद्ध भी एक अवतार घोषित हो जाते हैं, कबीर, जायसी और नानक भी निर्गुण-ईश्वर की आराधना का संदेश उसी तरह देते नजर आते हैं जैसे कि तुलसीदास सगुण ईश्वर का। मीरा भी कृष्ण-भक्ति की आराधक उसी तरह नजर आने लगती है जैसे कि सूरदास। मर्यादाओं के नाम पर सामन्ती-मूल्यों व पितृसत्तात्मकता की स्त्री-जीवन पर जकड़बन्दी के खिलाफ उसका संघर्ष भक्ति के नीचे दब कर रह जाता है। आचार्यों को एक ही परम्परा निरन्तर नजर आई - भक्ति

की। परम्पराओं की विभिन्नता को माना भी तो भक्ति के संदर्भ में ही। दूसरी परम्परा को सही न पहचान पाने का कारण शायद हिन्दी-प्रदेश के नवजागरण का आधार भी रहा। यहां नवजागरण अपनी तमाम ऊर्जा के बाद भी शास्त्रों की अनुमति लेकर ही चला। करणीय या त्याज्य परम्पराओं के लिए मानवीय तर्क को इतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि शास्त्रों के अनुमोदन का। हिन्दी-प्रदेश में समाज-सुधार आन्दोलन का तर्क भी शास्त्र ही था। यही उचित-अनुचित के निर्णय का लिटमस टेस्ट था। शायद नवजागरण की इस कमजोरी को पहचानने की बजाए इसी संस्कार द्वारा परम्परा की पहचान की वजह से ही रामविलास शर्मा जैसे घोर मार्क्सवादी भी अन्ततः वेदों और शास्त्रों के आगे नतमस्तक हो जाते हैं और लोकधर्म परम्परा की अनदेखी हो जाती है। "हिन्दी समाज में दूसरी परम्परा पर विचार का प्रेरणा स्रोत है नामवर सिंह की पुस्तक – 'दूसरी परम्परा की खोज'। नामवर सिंह की पुस्तक में दूसरी परम्परा पहली से केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि पहली के विरुद्ध विद्रोह करने वाली वैकल्पिक परम्परा के रूप में व्याख्यायित है। परम्परा की धारणा केवल साहित्य तक सीमित नहीं होती, उसका सम्बन्ध समाज और संस्कृति से भी होता है। भारतीय समाज और साहित्य के संदर्भ में पहली परम्परा मर्यादावादी शास्त्रोन्मुखी, यथास्थितिवादी और केन्द्रवादी है तो दूसरी परम्परा स्वाधीनता को महत्त्व देने वाली, लोकोन्मुखी, परिवर्तनवादी और हाशिये के लोगों की चिन्ताओं से जुड़ी है। नामवर सिंह की पुस्तक में पहली परम्परा के प्रतिनिधि हैं – तुलसीदास और उनके व्याख्याकार आलोचक रामचन्द्र शुक्ल तो दूसरी परम्परा के प्रतिनिधि हैं – कबीर और उनके व्याख्याकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। भारतीय समाज, संस्कृति और साहित्य में पहली परम्परा वैदिक-पौराणिक धारा से जुड़ी है तो दूसरी बौद्ध धर्म और दर्शन से। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल के प्रसंग में जिस लोकधर्म की चर्चा की है, उसके मूल में बौद्ध धर्म की उपस्थिति को देखा है और बौद्ध कवि तथा दार्शनिक अश्वघोष की जातिवाद विरोधी रचना 'वज्रसूची' का उल्लेख भी किया है। 'वज्रसूची' की चिन्तन-परम्परा सरहपाद से होती हुई कबीर की कविता में मौजूद दिखाई देती है। बौद्ध परम्परा का विवेकवाद अश्वघोष से सरहपाद और कबीर को जोड़ता है।'

नामवर सिंह ने परम्परा के संदर्भ में कथित 'मुख्यधारा' की 'स्थापित परम्परा' के समानान्तर सब कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर पैदा होने कबीर की परम्परा की अधिक सार्थकता का जो गम्भीर प्रश्न उठाया था उसका हथ्र भी पण्डितों की सभा में वही हुआ जो दूसरी परम्परा के साथ होता आया है। प्रश्न पर तो उतना विचार नहीं हुआ जितना कि उसके उठाने वाले की मंशा के बारे में। प्रश्न की तह में न जाकर उसकी सतह पर ही पत्थर फेंके जाते रहे। व्यक्तियों को आमने-सामने करके उनके उखाड़-पछाड़ की कवायद में वही हुआ कि मुद्दा तो गुम हो गया। कुछ गर्द उठी जो दूसरी परम्परा पर जम गई। "हिन्दी में दूसरी परम्परा पर बहस की विडम्बना यह रही है कि वह बहस व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भ को सामने रखने के बदले तुलसी बनाम कबीर, रामचन्द्र शुक्ल बनाम हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा बनाम नामवर सिंह तक सीमित हो गई है।'

नामवर को हिन्दी आलोचना में जो ख्याति प्राप्त हुई है उसका श्रेय उनकी आलोचना की रचनात्मक भाषा को भी जाता है। आलोचना की भाषा अक्सर या तो पांडित्य से बोझिल व नीरस हो जाती है या फिर आलोचक का एक तरफा वक्तव्य बनकर रह जाती है। नामवर सिंह की सृजनात्मक भाषा पाठकों के साथ संवाद करती है। नामवर की भाषा पाठक पर हथौड़े नहीं चलाती, बल्कि धीरे से उसकी चेतना में उतर जाती है। कथा साहित्य में जो भाषा प्रेमचन्द ने अपनाई और सीधे लोगों से संवाद करती हुई उनके दिलो-दिमाग में जगह बना ली वही काम नामवर सिंह की भाषा आलोचना में करती है। यह अपने पाठक के साथ जीवन्त संबंध बनाए रखती है और उसे अपने साथ लेकर चलने की क्षमता रखती है। व्यंग्य नामवर की भाषा का सहज गुण है। व्यंग्य के लिए उनको विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता वह शब्दों के बीच अपनी उपस्थिति बनाए रखता है।

कभी इस बात का आभास या अहसास नहीं होता कि किसी विशेष शब्द को किसी पर कटाक्ष करने के लिए विशेष रूप से चुना गया है। इसी से उनकी भाषा में एक रवानी आती है और पाठक के साथ संवाद का रिश्ता कायम करने में यह व्यंग्य मदद करता है। नामवर सिंह की भाषा का रूप वहां अधिक निखर कर आया जहां उनके सामने कोई विरोधी विचार हो और उन्हें उसके भीतरकी विडम्बना या कमजोरी या बेईमानी को उद्घाटित करना हो। ऐसे मौके पर भाषा के व्यंग्य की मारक क्षमता और भी बढ़ जाती है। 'व्यापकता और गहराई' के प्रश्न की आड़ में व्यक्तिवादी रचनाकार जब प्रेमचन्द पर हमले कर रहे थे तो नामवर सिंह के उत्तर की भाषा देखने लायक है। "आज के बहुत से लेखक हैं जो वास्तविकता पर परदा डालने को ही गहराई समझते हैं। ये आज के शोषण और सामाजिक प्रगति पर रहस्य और दर्द के कुहासे का परदा डालते हैं। जो सत्य का उद्घाटन करने की ओर कदम नहीं बढ़ाता उसकी गहराई कैसी?"

सचाई यह है कि 'गहराई' के हिमायती अधिकांशतः अन्तर्मुखी हैं और अपने अन्दर निरन्तर सिमटते जाने को ही वे गहराई कहते हैं। परिस्थिति पर प्रहार करना तो दूर, वे उल्टे या पीछे भागते हैं, 'यदा सहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।' इसी को गुलेरीजी ने 'कछुआ धर्म' कहा है। इस तरह ये लेखक जैसे-जैसे अपने भीतर सिमटते हैं, उसी क्रम से समाज से दूर होते जाते हैं। रत्नाकरजी की गोपियों की तरह उन्हें भी कहना चाहिए कि – ज्यों-ज्यों बसे जात दूर-दूर प्रिय प्रान मूरियों-त्यों धंसे जात मन-मुकुर हमारे में।

फिर भी ये रणछोड़-बहादुर अपने को पलायनवादी नहीं मानते, गोया समाज से आसमान में भागना ही एक पलायन है। इस आन्तरिक पलायन को ये लेखक 'आन्तरिक सामाजिकता' कहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समाज विभिन्न व्यक्तियों के अन्दर रहता है। यदि ऐसी बात है तो व्यक्ति की सीमा से बाहर जो पारस्परिक सम्बन्ध है उनका नाम क्या होगा?"

नामवर सिंह की भाषा में संस्कृत, उर्दू, फारसी व अंग्रेजी के शब्द उसी सहज भाव से आते हैं जैसे कि लोकजीवन में प्रचलित मुहावरे व लोकोक्ति। मुहावरे-लोकोक्ति व लोकजीवन में प्रचलित किसी कहावत या मान्यता को गूढ़ चिन्तन से इस तरह जोड़ते हैं मानो कि आलोचना नहीं बतकही कर रहे हों।

लोकोक्तियों और मुहावरों का ऐसा प्रयोग वही समर्थ लेखक कर सकता है जिसकी लोकजीवन पर गहरी पकड़ हो। मीर, गालिब, टैगोर व अंग्रेजी के किसी कवि की कविता की पंक्तियाँ आलोचना में सहज रूप से आ जाती हैं, जो नामवर सिंह के विशद अध्ययन को दर्शाती हैं और कमाल की बात ये है कि ये किसी भारी भरकम उद्धरण के रूप में या पांडित्य के रूप में नहीं आती, बल्कि अपनी सृजनशील मिठास के साथ आलोचना को सरस करने के लिए आती हैं।

अरविंद त्रिपाठी ने नामवर की भाषा पर विचार करते हुए लिखा कि "आज जब हम उनकी आलोचना पर विचार करने बैठते हैं तो हमें उनकी आलोचना-शक्ति का बीज-तत्त्व उनकी भाषा में दिखाई देता पड़ता है। उनकी आलोचना-दृष्टि में अगर तीक्ष्णता, बेलागपन और हाजिर-जबाबी के साथ हमेशा एक ताप दिखाई देता है, तो उसके पीछे उनकी आलोचना की भाषा का बहुत बड़ा हाथ छिपा हुआ दिखाई देता है। उनकी भाषा को पढ़ते हुए कभी आचार्य शुक्ल की स्पष्टवादिता, तत्त्व चिंतन और हाजिर-जबाबी झलकती है तो कभी महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा शब्दानुशासन, तो कभी-कभी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा मस्तमौलापन-फक्कड़पन और कबीर जैसी बेहिसाब ठाठ-फकीरी झलकती है। महाकवि निराला ने गद्य की भाषा को जीवन-संग्राम की भाषा जिन अर्थों में कहा था वह नामवर सिंह की आलोचनात्मक भाषा में देखा जा सकता है। लड़ाई के मोर्चे पर लड़ते हुए सैनिकों का तुमुल-उद्घोष, हाहाकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। नामवर सिंह की आलोचना की भाषा के तरकश में ऐसे असंख्य तीर भरे पड़े हैं। चाहे वह मुक्तिबोध को लेकर नई कविता के रणक्षेत्र में उतरने का दौर हो, या फिर नई कहानी के मूल्यांकन क्रम में निर्मल वर्मा की वकालत का सवाल हो, या फिर इधर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लेकर 'दूसरी परम्परा की खोज' की बात हो।"

कहा जा सकता है कि नामवर सिंह ने आलोचना की लम्बी-यात्रा में हिन्दी-साहित्य विमर्श में प्रचलित कई भ्रमों व गलत धारणाओं के कूड़े की सफाई की। [20]

संदर्भ

- [1] सं. समीक्षा ठाकुर; कहना न होगा; वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ.-65
- [2] पल प्रतिपल; अप्रैल-जून, 2002; पृ.- 213
- [3] उत्तरार्द्ध; (अंक-22, जबरीमल पारख का लेख) ; पृ.- 50
- [4] नामवर सिंह; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; 1986; पृ.-7
- [5] नामवर सिंह; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; 1986; पृ.-53
- [6] कहना न होगा; पृ.- 63
- [7] मैनेजर पाण्डेय; आलोचना की सामाजिकता; वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005; पृ.-59
- [8] सं. समीक्षा ठाकुर; कहना न होगा; वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ.-62
- [9] नामवर सिंह; आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1977; पृ. - 43
- [10] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-18
- [11] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-21
- [12] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-23
- [13] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-19
- [14] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-25
- [15] नामवर सिंह; कहानी: नयी कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1989; पृ.-20
- [16] सं. समीक्षा ठाकुर; कहना न होगा; वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ.- 28
- [17] मैनेजर पाण्डेय; आलोचना की सामाजिकता; वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005; पृ.-69
- [18] मैनेजर पाण्डेय; आलोचना की सामाजिकता; वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005; पृ.-69
- [19] नामवर सिंह; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; 1986; पृ.-18
- [20] अरविन्द त्रिपाठी; आलोचना की साखी; किताबघर प्रकाशन, दिल्ली; प्र.सं.2000; पृ.- 43